जबलपुर : 1857

डॉ. कैलाश नारद

तोरन देवी शुक्ल 'लली' बुंदेली भाषा में कविता लिखती थीं। 'जीवन की पगडंडियाँ' नाम से उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी थी, जिसमें जबलपुर में सन् 1857 की गदर का भी चित्रण है। तोरन देवी का निधन सन् 1955 में हुआ। 'जीवन की पगडंडियाँ' का एक महत्वपूर्ण अंश यहाँ प्रस्तुत है

हमारे पूर्वज मूलतः राजस्थान की भरतपुर रियासत के निवासी थे। परिवार की आर्थिक दशा ठीक नहीं थी। लगभग भुखमरी की हालत थी। बारिश होती नहीं थी। सावन-भादों के हरियाले दिनों में धूल उड़ा करती। सूखा चौतरफा रहता। सन् 1848 के आसपास मेरे परदादा रोजी-रोटी की तलाश में जबलपुर आ गये। साथ में एक जाति भाई

शंकर शाह

रघुनाथ शाह

भी थे। साथ में दोनों की पत्नियां। मेरे परदादा और उनके दोस्त ने अपनी-अपनी थोड़ी पूँजी से गढ़ा-पुरवा में दो छोटी दुकानें खोलीं। मेरे परदादा ने अनाज की और जाति भाई ने तिलहन की। जबलपुर में खूब ताल-तलैयां थीं। करीब पांच सौ तालाब तो बस्ती में होंगे ही। उनके आसपास पहाड़ियाँ ही पहाड़ियाँ। पूरी बस्ती हरियाली से ढँकी थी। गर्मी के दिनों में भी शाम ढलते-ढलते सर्दी लगने लगती। तालाबों में सिंघाड़े खूब होते थे। मेरे परदादा ने उनको खरीदने-बेचने का काम भी शुरू कर दिया। ईश्वर की कृपा कहिये कि यहां दोनों की इतनी कमाई होने लगी कि दिन फिरने लगे। दोनों ने अपने-अपने मकान भी बना लिये। पास में ही शंकर शाह और रघुनाथ शाह भी रहते थे। वे दोनों परस्पर पिता-पुत्र थे। मंडला के पास उनकी ज़ागीर थी, जिसे अंग्रेजों ने जब्त कर लिया था। एवज में उनको गढ़ा, पुरवा और आमनपुर नामक तीन गांव गुजर-बसर के वास्ते दे दिये थे। अंग्रेजों की कचहरी बहुत दूर थी। साहबों से मुलाकात करने दोनों पिता-पुत्र उनके पास पालकी में बैठकर जाते। वे अपनी जागीर वापस चाहते थे, लेकिन बतलाते हैं, शंकर शाह और रघुनाथ शाह की सुनवाई कतई इजलास में नहीं होती थी। साहब के मुंशी के पास बैठे-बैठे जब वे थक जाते, वापस घर लौट आते।

जबलपुर में धंधा चल निकला। दोनों प्रसन्न थे। मेरे परदादा के यहां दो लड़के हुए और जाति भाई के यहां एक लड़की। सन् 1857 की गदर के समय मेरे पितामह बिहारीलाल की उम्र सात वर्ष और उनसे बड़े अंबिकाप्रसाद की नौ साल की थी। जाति भाई की कन्या आठ वर्ष की थी। मेरे परदादा की इच्छा थी कि अपने देश भरतपुर वापस लौटकर दोनों लड़कों का जनेऊ करें, साथ ही ब्याह भी कर दें। उस समय बाल विवाह एक सामान्य प्रचलित प्रथा थी, लेकिन दोनों ही जनों को जब पता लगा कि मार-काट शुरू हो गई है, तो उनकी हिम्मत जवाब दे गई। बाद में उन्होंने तय किया कि अंबिकाप्रसाद की सगाई दूसरे जाति भाई की कन्या से कर दी जाये। जब उपद्रव शांत हो जाएँगे, तब दो वर्ष बाद भरतपुर जाकर जनेऊ और विवाह साथ-साथ कर देंगे।

पर, 'मेरे मन कछु और है, बिधना के कछु और।' सन् 57 के विद्रोह में राजा शंकर शाह और रघुनाथ शाह भी पकड़ लिए गए। उनके घर की तलाशी लेने पर एक कविता मिली, जिसमें कालिका मैया से प्रार्थना की गई थी कि वह अंग्रेज म्लेच्छों का नाश कर दें। उन दोनों के बारे में बतलाया जाता है, जबलपुर के ही किसी सेठ ने अंग्रेजों की छावनी में जाकर उनसे चुगली की थी। सेठ को इनाम में सात सौ एकड़ जमीन और अस्सी गांव मिले थे। यह घटना 18 सितंबर, 1857 की है। 19 सितंबर को रघुनाथ शाह और शंकर शाह को तोप से उड़ा दिया गया। उस समय सुबह के पांच बजे थे। तोप दगी तो सारी बस्ती दहल गई। दो दिन बाद गोरे शहर में घुस आये। उन्होंने मनमानी लूटपाट शुरू कर दी। इसका अंदेशा पहले से था, इसलिए हजारों लोग पहले से ही अपनी जान बचाकर जंगलों में छिप गये थे। शहर के बीचों-बीच फौज ने अलाव सुलगाया और जो भी आदमी उन्हें मिला, उसे पकड़कर आग में झोंक दिया गया।

छाया : प्रहलाद कुमार

जबलपुर में शंकर शाह - रघुनाथ शाह का स्मारक

औरतें अपनी आबरू बचाने कुओं में कूद गई। दुकानें लूटी गई। अनाज गोरे सिपाहियों और उनके घोड़ों के लिए सबसे ज्यादा काम का था, सो किराना बाजार की लूट में सारे दुकानदार मार डाले गये। मेरे परदादा और उनके जाति भाई की भी यही गति हुई। जबलपुर में भगदड़ मच गई। जो भी हाथ लगा, उसे समेटकर लोग शहर छोड़कर भागने लगे। मेरी परदादी और उनकी समधन भी तीनों बच्चों को लेकर उस झुंड में शामिल थीं जो जान बचाकर भाग रहा था। दोनों के पति मारे जा चुके थे। दोनों विधवायें इस स्थिति में नहीं थीं कि उनका अंतिम संस्कार कर सकें। बाजारों में हजारों लाशों के साथ जो हुआ वैसा ही हाल उन दोनों का भी हुआ होगा। बदहवास से औरत, मर्द, बच्चे, लुटे-पिटे अपनी-अपनी कथरी-गुदड़ी कंधे पर लादे पैदल चलकर अकोला आ गये। यह जगह महाराष्ट्र में है। बाबूजी बताते थे कि वहां सितंबर की गर्मी में, खुली सड़क पर बैठे जबलपुर के वे असहाय जन जिनमें स्त्रियाँ व बच्चे थे, दक्षिण की तरफ जाने की सोच रहे थे। सुना था, वहां शांति है।

लेकिन उस झुलसाने वाली गर्मी में, अंगार बरसाते आसमान के नीचे मुसीबत के मारे काफिले पर दूसरी विपत्ति आई। अधिकांश बच्चों के माता निकल आई। बड़ा लड़का अंबिकाप्रसाद उसी चेचक की भेंट चढ़ गया। सगाई वाली कन्या विवाह के पूर्व ही विधवा हो गई, पर आगे तो जाना ही था। अंबिकाप्रसाद को वहीं नदी में विसर्जित कर मेरी परदादी और उनकी समधन अन्य सभी के साथ छत्तीसगढ़ की तरफ चल दीं। किसी तरह दोनों विधवायें भाटापारा तक पहुंच गईं। सात वर्ष के बिहारीलाल, आठ वर्ष की राजकुंवर और दोनों माताएं, पास में फूटी कौड़ी तक नहीं।

एक खपरैल की कोठरी का किसी तरह चार आने महीने किराया में बंदोबस्त हुआ, लेकिन समस्या थी चार जनों के उदर-पोषण की। वे औरतें यदि छोटी जाति की होतीं, तो भाटापारा के बड़े आदमियों के यहाँ चौका-बर्तन करने, कंडे पाथने और झाड़ू-सफाई का काम मिल जाता, लेकिन हम ब्राह्मण थे, ऊँची जाति के होने की संस्कारगत चेतना आड़े आ जाती थी। अब केवल एक ही रास्ता था। चक्की पीसना। धनी घरों में पिसनहारी लगी थीं। मेरी परदादी ने भी धनी आदमियों के घर जाकर अपनी व्यथा सुनाई और अनाज पीसने का काम माँगा। एक घर से चक्की उधार ली गई। शर्त यह थी कि चक्की की मालकिन रोज आधा सेर आटा मुफ्त में लेगी। अनाज की पिसाई उन दिनों दो पैसे पसेरी यानी पांच सेर थी। पैसा उस समय बहुत सुलभ नहीं था। पैसों की जगह कौड़ियों में मोल-तोल होता था। सोलह कौड़ी एक पैसे के बराबर थी।

मेरी परदादी धनी सेठों के घर से दस सेर अनाज तुलवाकर लातीं, घर लाकर उसे बीनतीं, पछोरतीं और वह कूड़ा भी पोटली में बाँधकर रखतीं। फिर बिने हुए अनाज को पीसतीं और दिन के दस-ग्यारह बजे तक पिसा आटा व कूड़ा अलग लेकर सेठ के घर जातीं, जहाँ कूड़ा और आटा तौले जाते। उन्हें पिसाई की इकन्नी मिलती थी। परदादी उस इकन्नी का आटा खरीदकर घर लातीं। तब तक दोनों बच्चे यानी बिहारीलाल और राजकुंवर पास वाले जंगल से सूखी लकड़ियां बीन लाते थे। उन्हीं की आंच पर रोटियां सिंकती थीं, जिन्हें नमक-पानी के साथ खाकर बच्चे व उनकी मातायें पेट की आग बुझाते। बची हुई रोटियां कपड़े में लपेटकर रात के वास्ते रख दी जातीं, क्योंकि दो वक्त जलाने लायक भी लकड़ियाँ नहीं होती थीं।

गरीबी की मार बच्चों को समय से पहले ही बड़ा बना देती है। बिहारीलाल भी आठ साल की आयु में अपनी उम्र से अधिक कर्मठ और समझदार हो गए थे। उन्होंने सोचा वे भी धेला-पैसा कमा सकें तो रोटी के साथ दाल-सब्जी का हिसाब भी बैठ सकता है। पर मुश्किल यह थी कि वे ब्राह्मण की संतान थे, अपेक्षाकृत नीची जाति के बच्चों की तरह धनी आदमियों के हुक्के नहीं भर सकते थे और न ही झाड़ू लगा सकते थे, तभी उनके दिमाग ने एक उपाय ढूँढ़ निकाला।

जंगल वे प्रायः रोज ही जाते थे। अब वे नीम या बबूल के पेड़ पर टहनियाँ तोड़ने लगे। उन टहनियों को वे घर लाते और चाकू से छीलकर दातुनें तैयार करते। उसके बाद भाटापारा की गलियों में जाकर उन दातुनों की फेरी लगाते, 'एक कौड़ी में एक दातुन... दो कौड़ी में तीन दातुन' की उनकी पुकार पूरे भाटापारा में सुनाई देती। उन दिनों लोग कंडे की राख से दांत साफ करते थे या दातुन करते थे। छिली-कटी हरी-हरी दातुनें बस्ती के लोग खरीद लेते और बिहारीलाल को आठ-दस कौड़ियां मिल जाती थीं। इनसे वह मूली, शलजम, गाजर और आलू ले आते। हर दूसरे-तीसरे दिन सब्जी-रोटी उन कौड़ियों से बनने का बंदोबस्त हो चला था। कभी-कभी दाल भी बन जाती थी। मेरे पिता शारदाप्रसाद बतलाते थे कि एक दफा मेले में मेरे दादा बिहारीलाल की दातुनों से जब पूरी एक इकन्नी आई, तो उससे सूजी और शक्कर खरीदी गई। घी उधार माँगा गया और पूरे तीन बरस बाद घर में पहली बार किसी ने मिठाई का स्वाद चखा।

(डॉ. नारद वरिष्ठ लेखक हैं।) ❖